शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

अगस्त : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ४

सीताजी का सन्देश

वनवास के समय सीताजी सन्देश कहलाती हैं—'हे सेनापति! मेरे राम से कहना कि लोकापवाद के भय से मुझे तो छोड़ा, किन्तु जिन-धर्म को मत छोड़ना। अज्ञानी जन जिनधर्म की भी निन्दा करें तो उस निन्दा के भय से सम्यग्दर्शन को कभी मत छोड़ना। चौविध संघ की सेवा करना... मुनियों तथा अर्जिकाओं को भक्तिपूर्वक आहारदान देना....' देखो, ऐसे वनवास के समय भी सीताजी को अंतर स्वभाव में से धर्म की उमंग उठी है... धर्म के आधारभूत स्वभाव अंतर में देखा है, उस स्वभाव के आश्रय से उमंग उठी है... अहो! मैं भले ही जंगल में अकेली पड़ी हूँ, किन्तु मेरे धर्म का आधार अंतर में विद्यमान है, उसे मैं नहीं छोड़ती... और मेरे राम से कहना कि वे भी धर्म को न छोड़ें.... लोकापवाद के हेतु मुझे तो छोड़ा किन्तु धर्म को न छोड़ें।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१८४]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मुक्ति का मार्ग (दूसरी आवृत्ति)

जिसमें सभी जिज्ञासुओं को समझने में सुगम शैली है। हित के मार्ग में प्रवेश करनेवालों को प्रथम किस किस बात का ज्ञान जरूरी है, वह बात मुख्यरूप से है—थोक लेकर प्रचार कीजिये पृ० संख्या १०२, मूल्य ५० नया पैसा।

★

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण भा. २ (दूसरी आवृत्ति)

जिसमें मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ के ऊपर पूज्य कानजी स्वामी के व्याख्यानों का संग्रह है; मोक्षमार्ग के विषय में, तत्वार्थश्रद्धान के विषय में अनेक विवादों का सच्चा समाधान है।

जिज्ञासुओं से प्रार्थना है कि इसे एकाग्र चित्त से पढ़कर धर्म के नाम पर सूक्ष्म और स्थूल गलतफहमी किस रूप में है, बराबर समझें। आत्महितरूप सच्चा प्रयोजन के लिये यह ग्रंथ विशेषरूप से पढ़ने योग्य है। पृ० संख्या ४०७ मूल्य २) पोस्टेजादि अलग।

★

सूचना

श्रीमत्भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत श्रीनियमसारजी नामक महान आध्यात्मिक शास्त्र संस्कृत टीका सहित छपना शुरु हो गया है, दो मास में तैयार हो जाना संभव है-तैयार होने पर सूचित करेंगे।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अगस्त : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ४

समकित-सावन आयो

सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा में चैतन्यरस की धारा बरसती है, अज्ञानदशा का तीव्र आताप शांत हो जाता है.... अनुभवरूपी बिजली दमकने लगती है.... आत्मभूमि में साधकभावरूपी अंकुर फूटते हैं.... भ्रमणारूपी धूल नहीं उड़ती और असंख्य आत्मप्रदेश में सर्वत्र आनंद-आनंद छा जाता है।—इत्यादि प्रकार से सम्यग्दर्शन को श्रावणमास की उपमा देकर कवि भूधरदासजी ने कितना भाववाही वर्णन किया है, वह देखिये—

अब मेरे समकित-सावन आयो.....
बीति कुरीति-मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो....
.....अब मेरे समकित-सावन आयो.....

अब मेरे यहाँ सम्यक्त्वरूपी सावन आ गया है; कुरीति और मिथ्यामतिरूपी ग्रीष्मकाल बीत गया है और आत्मिक-रस की सहज वर्षा शोभा दे रही है।—अब मेरे यहाँ सम्यक्त्वरूपी सावन आ गया है।

अनुभव-दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो,
बोले विमल विवेक-पपीहा, सुमति सुहागिन भायो....
....अब मेरे समकित-सावन आयो.....

सम्यक्त्वरूपी सावन का आगमन होने से, आत्मानुभवरूपी बिजली दमकने लगी है और सम्यक्रुचि रूपी घनघोर घटा से आत्मिक आकाश छा गया है; विमल विवेकरूपी पपीहा बोल रहा है और उसकी मधुरध्वनि सुमतिरूपी सुहागिन को प्रिय लग रही है।—अब मेरे यहाँ सम्यक्त्वरूपी सावन आ गया है।

गुरु धुनि-गरज सुनत सुख उपजत, मोर-सुमन विहँसायो,
साधक भाव-अंकूर उठे बहु, जित तित हरष सवायो....
....अब मेरे समकित-सावन आयो.....

सम्यक्त्वरूपी वर्षाऋतु में श्री वीतराग गुरु की ध्वनिरूप मेघगर्जना सुनकर सुख उत्पन्न होता है और मनरूपी मोर हर्षित हो उठा है; आत्मक्षेत्र में साधकभावरूपी अंकुर उग आये हैं और चैतन्यभूमि में सर्वत्र आनन्द छा गया है।—अब मेरे यहाँ सम्यक्त्वरूपी सावन आ गया है।

ऐसे आनन्ददायक सम्यक्त्वरूपी वर्षाऋतु में सदा निमग्न रहने की भावनापूर्वक कवि अन्तिम पद में कहते हैं कि—

भूल-धूल कहिं मूल न सूझत, समरस-जल झर लायो;
'भूधर' क्यों निकसे अब बाहिर, निज निरचू घर पायो....
....अब मेरे समकित-सावन आयो....

आत्मा में सम्यक्त्वरूपी वर्षा होने से भूलरूपी धूल कहीं उड़ती दिखाई नहीं देती और सर्वत्र समरसरूपी जल के झरने फूट पड़े हैं। कवि (भूधरदासजी) कहते हैं कि अब हम बाहर किसलिये निकले ?—अब हम अपने निजगृह से बाहर नहीं निकलेंगे; क्योंकि हमने निरचू (जो कभी न चुअे ऐसा) घर-अविनश्वर आध्यात्मिक स्थान प्राप्त कर लिया है; हम उसी में रहकर सम्यक्त्वरूपी सावन का आनन्द भोगेंगे।—अब हमारे यहाँ सम्यक्त्वरूपी सावन आ गया है।

उसका जन्म सफल है

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः
संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ॥

कायविकार को छोड़कर जो पुनः पुनः शुद्धात्मा की संभावना (सम्यक्-भावना) करता है, उसी का जन्म संसार में सफल है।

प्रथम तो जिसने काया से भिन्न चिदानन्दस्वरूप का भान किया है, तदुपरान्त काया से उपेक्षित होकर बारम्बार अंतर में शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर उसकी भावना भाता है, उस धर्मात्मा का अवतार सफल है; उसने जन्म लेकर आत्मा में मोक्ष की ध्वनि प्रगट की, मोक्ष की अभिलाषा जागृत की... इसलिये उसका जन्म सफल है। अज्ञानता के कारण तो अनंत अवतार किये, वे सब असफल हुए, उनमें आत्मा का कोई हित नहीं हुआ। चिदानन्दस्वरूप का भान करके जिस जन्म में आत्मा का हित किया, वही सफल अवतार है।

'आत्म-रसिक होकर.... अनुभव कर'

जो आत्मा के रसिक हैं, ऐसे जीवों को स्वद्रव्य तथा परद्रव्य का ज्ञान कराके आचार्यदेव परम करुणापूर्वक प्रेरणा करते हैं कि हे भव्य जीवों! स्वपर की एकताबुद्धिरूप मोह को अब तो छोड़ो! और अपने चैतन्यतत्त्व को पर से भिन्न जानकर उसके चैतन्यरस का आस्वादन करो! चैतन्य के रसिक होकर अब तो उसका अनुभव करो! अभी तक तो स्वपर की भिन्नता के भान बिना अज्ञानरूप से मोह से संसार भ्रमण किया है... किन्तु अब हमने स्वपर की जो अत्यन्त भिन्नता बतलाई है, उसे जानकर मोह को छोड़ो... और ज्ञान के अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वाद लो। स्वद्रव्य को पर से भिन्न जानकर अन्तर्मुख होते ही तुम्हें अपने ज्ञान का अपूर्व अतीन्द्रिय स्वाद अनुभव में आयेगा।

हे जीव! परद्रव्य किंचित्मात्र तेरा नहीं है, इसलिये उसका रस छोड़... और चैतन्य द्रव्य ही तेरा है—ऐसा जानकर तू चैतन्यरसिक बन; पर के रस में तू अनंतकाल से दु:खी हुआ है; अब तो उसका रस छोड़कर आत्मरसिक बन! अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य किन्हीं जड़-चेतन पदार्थों के साथ तीन काल में तेरी एकता नहीं है, इसलिये पर में आत्मबुद्धि छोड़ और अपने आत्मा में ही अन्तर्मुख होकर उसमें आत्मबुद्धि कर। ऐसा करने से तुझे अपने ज्ञान का स्वाद अनुभव में आयेगा। तेरा अज्ञान नष्ट होकर तुझे भेदज्ञान होगा। अहा! हमने तुझे स्पष्टरूप से तेरा परद्रव्यों से भिन्नत्व बतलाया है; अब तो तू भेदज्ञानरूप परिणमित हो... अब तो तू आत्म-रसिक होकर उसका अनुभव कर।

रसिक उसे कहते हैं जिसे ज्ञानमूर्ति आत्मा का अनुभव ही रुचिकर प्रतीत होता है... चैतन्य रस के निकट अन्य सब रस नीरस-फीके मालूम होते हैं... चैतन्य रस के अतिरिक्त अन्य कोई रस जिसे नहीं सुहाता... ऐसे आत्मरसिकजन आचार्यदेव का उपदेश सुनकर स्वपर के भेदज्ञान द्वारा मोह को छोड़कर आत्मा का अनुभव अवश्य करते हैं।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्

[—समयसार कलश २२ के प्रवचन से]

वीतराग मोक्षमार्ग

(रखियाल ग्राम में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : वैशाख शुक्ला पंचमी)

यह नियमसार की दूसरी गाथा है। इसमें आचार्यदेव कहते हैं कि:—

मार्गो मार्गफलमिति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम्।
मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम्॥२॥

मार्ग अर्थात् रत्नत्रय निरपेक्ष आत्मतत्त्व के आश्रय से प्रगट होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय, वह मोक्ष का मार्ग है और पूर्ण ज्ञानानन्द की प्राप्ति, वह उसका फल है। शुद्ध आत्मतत्त्व के भान बिना चारों गति में जीव ने अनंत अवतार करके नये-नये शरीर धारण किये हैं... शरीर तो विनाशी है, आत्मा अविनाशी है... अनंत शरीर आये और गये, किन्तु आत्मा तो ज्यों का त्यों अविनाशी रहा है।

अरे आत्मा! अपने अविनाशी स्वरूप के भान बिना शुभराग से मुनिव्रत भी तूने अनंतबार पाला, किन्तु चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द तुझे अंशमात्र नहीं मिला। आत्मा के सम्यक्ज्ञान बिना जगत में कहीं शांति का अंश भी नहीं है; स्वर्ग की इन्द्राणी आदि के वैभव में भी सुख नहीं है। 'छहढाला' में पं० दौलतरामजी कहते हैं कि:—

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

दु:ख का कारण कोई अन्य नहीं, किन्तु अपने स्वरूप का अज्ञान ही अनंत दु:ख का कारण है।

'जे स्वरूप समज्या बिना पाम्यो दु:ख अनंत'

अनंत दु:ख क्यों प्राप्त किया? तो कहते हैं कि अपने स्वरूप को समझे बिना। उस दु:ख से छूटने का उपाय क्या?—तो कहते हैं कि उपाय तो शुद्ध रत्नत्रय है। शुद्ध रत्नत्रय अर्थात् निश्चय रत्नत्रय, वीतरागी रत्नत्रय। साथ में अशुद्धता अथवा व्यवहाररत्नत्रयरूप राग है, वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है; मोक्षमार्ग के साथ होने पर भी वह सचमुच मोक्षमार्ग नहीं है। पाँच तोला सुवर्ण में तीन तोला लाख भरी हो तो आठ तोले का आभूषण कहलाता है; किन्तु जब आभूषण का मूल्य किया जाता है, वहाँ सिर्फ पाँच तोला सुवर्ण की ही कीमत आँकी जाती है, साथ में रहनेवाली तीन

तोला लाख की नहीं; उसी प्रकार मोक्षमार्गरूपी जो आभूषण, उसमें निश्चयरत्नत्रय के साथ वाले राग को भी व्यवहाररत्नत्रय कहा है, परन्तु मोक्षमार्ग के यथार्थ स्वरूप का विचार करने पर तो निश्चयरत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है; जो राग है, उसकी कीमत मोक्षमार्ग में नहीं आँकी जाती यानी व्यवहाररत्नत्रय सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है, शुद्ध रत्नत्रय ही सच्चा मोक्षमार्ग है।

—ऐसा मोक्षमार्ग कैसे प्रगट होता है ?

क्या राग से मोक्षमार्ग प्रगट होता है ?—नहीं।

क्या देह की क्रिया से मोक्षमार्ग प्रगट होता है ?—नहीं।

मोक्षमार्ग तो शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है। पर से वह निरपेक्ष है, व्यवहार के राग से भी निरपेक्ष है। इसप्रकार परभावों से अत्यन्त निरपेक्ष होने के कारण मोक्षमार्ग परम वीतराग है।

भाई, संसार के क्लेश में आत्मा की सच्ची शांति प्राप्त करना हो तो यही मार्ग है... शांत होकर अंतर में इस मार्ग का विचार करो.... इसके सिवा किसी अन्य मार्ग से शांति प्राप्त नहीं हो सकती। जिसप्रकार कोई नेत्रहीन व्यक्ति दौड़ लगा लगाकर पुनः उसी स्थान पर आ जाता है, उसी प्रकार देह की क्रिया से और राग से धर्म होगा, ऐसा मानकर अज्ञानांध जीव अनादिकाल से दौड़ लगा रहा है, तथापि अब तक उसके हाथ कुछ नहीं आया, जहाँ था वहीं संसार का संसार में खड़ा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तू जरा ज्ञानचक्षु खोलकर देख तो सही की तेरी शांति कहाँ है ? क्या जड़ शरीर में तेरी शांति भरी है ? क्या राग में तेरी शांति है ?—नहीं, भाई! बाह्य में कहीं तेरी शांति नहीं है; तेरी शांति तो तेरे स्वभाव में है, उस स्वभाव में अंतर्मुख होना ही शांति का उपाय है।

भरत चक्रवर्ती की कैलाश-यात्रा

वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों में से तेईस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि—श्री सम्मेदशिखर, चम्पापुरी, पावापुरी और गिरनार—इन तीर्थधामों की यात्रा गत वर्षों में अनेक भक्तजनों ने पूज्य गुरुदेव के साथ की। तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि में अब मात्र आदिनाभ भगवान की निर्वाण भूमि कैलाश पर्वत की यात्रा शेष रहती है। वह कैलाश पर्वत वर्तमान में तो हमें अगोचर होने से उसकी साक्षात् यात्रा असम्भव ही है; तथापि जब भगवान ऋषभदेव साक्षात् कैलाश पर्वत पर विराजमान थे, उस समय भरत चक्रवर्ती ने भक्तिपूर्वक जो कैलाश यात्रा करके भगवान की वन्दना की थी; उसका वर्णन पढ़कर; उस महान यात्रा का स्मरण करके हम भी आज कैलाश यात्रा के आनन्द का किंचित् अनुभव करें.... ऐसी भावना पूर्वक 'महापुराण' तथा 'भरतेशवैभव' के आधार से कैलाश यात्रा का शुभ प्रसंग यहाँ उपस्थित किया गया है।

यह वही कैलाश पर्वत है कि जहाँ भरत चक्रवर्ती ने तीन चौबीसी के अतिभव्य रत्नत्रय जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा कराई है, तथा जहाँ से भगवान ऋषभदेव ने निर्वाण प्राप्त किया है। यह कैलाश पर्वत भरतक्षेत्र में ही यहाँ से ईशान कोण की ओर स्थित है।

एक दिन राजर्षि भरत राजसभा में बैठे थे; वहाँ एक साथ तीन बधाईयां आईं:—

(१) पूज्य पिता श्री ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है।

(२) अंत:पुर में रानी ने पुत्र को जन्म दिया है।

(३) आयुधशाला में चक्ररत्न प्रगट हुआ है।

उपरोक्त तीनों कार्यों की बधाई एक साथ आने पर महाराज भरत क्षणभर तो विचार में पड़ गये कि प्रथम कौन-सा उत्सव मनाया जाये? 'सर्व प्रथम धर्मकार्य ही करना चाहिये'—ऐसा विचार कर राजेन्द्र भरत ने सबसे पहले जिनेन्द्र भगवान की पूजा का निश्चय किया... अयोध्या नगरी में आनन्द भेरी बज उठी... अनेक प्रजाजनों तथा परिवार सहित महाराज भरत, भगवान के समवसरण में पहुँचे... महान भक्तिपूर्वक भगवान आदिनाथ स्वामी की पूजा तथा स्तुति की... और भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण करके अयोध्यापुरी लौटे। तत्पश्चात् चक्ररत्न की उत्पत्ति तथा

पुत्र जन्म का उत्सव मनाया और फिर छहखण्ड की दिग्विजय के लिये निकल पड़े। यहाँ हम जिस यात्रा का वर्णन कर रहे हैं, वह दिग्विजय के पश्चात् लौटते समय हुई थी।

जिन्होंने भरतक्षेत्र के समस्त राजा,विद्याधर और देवों को नम्रीभूत किया है, ऐसे श्रीमान चक्रवर्ती भरत दिग्विजय करके अयोध्यापुरी की ओर लौट रहे थे। महागंगानदी के किनारे-किनारे अनेक देशों, नदियों और पर्वतों का उल्लंघन करते-करते वे कैलाश पर्वत के निकट आये। उस समय भगवान ऋषभदेव कैलाश पर्वत पर विराजमान थे। कैलाश को निकट देखकर चक्रवर्ती ने सेना को वहाँ रुकने का आदेश दिया और स्वयं जिनेन्द्र भगवान की पूजा के लिये कैलाश की ओर प्रस्थान किया। उनके पीछे-पीछे बारह सौ कुमार तथा अनेक मुकुटधारी राजा जा रहे थे। उज्ज्वल कान्ति के कारण जो जिनेन्द्र भगवान के यशपिण्ड समान दिखाई दे रहा है। उस कैलाश के निकट शीघ्र पहुँचकर भरत महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए। अहा, महाराज भरत कैसे भाग्यशाली हैं कि दिग्विजय के लिये जाने से पूर्व प्रथम तो भगवान के केवलज्ञान की बधाई मिली थीं... और अब दिग्विजय करके लौटते समय भी भगवान त्रिलोकीनाथ के साक्षात् दर्शन हुए... अन्तर में सदा जो परमात्मभावना भा रहे हैं, ऐसे महात्मा को परमात्मा के साक्षात दर्शन हों, इसमें आश्चर्य क्या है! भगवान ऋषभदेव के दर्शनों के लिये भरत महाराज हर्ष पूर्वक कैलाशयात्रा कर रहे हैं।

कैलाश से झरते हुए झरने अपने अविराम स्वर में मानो कह रहे हैं कि 'हे भव्यों! यहाँ आकर त्रिलोकीनाथ भगवान ऋषभदेव की सेवा करो!' तलहटी के झरनों द्वारा कैलाश पर्वत ऐसा लग रहा है मानों चारों ओर से जिनेन्द्र भगवान के दर्शनार्थ आनेवालों को पाँव धोने के लिये पानी दे रहा हो! चारों ओर फल-फूलों से लदे हुए वृक्षों द्वारा वह पर्वत प्रसन्न दिखाई दे रहा है; स्फटिकमणि समान उज्ज्वल गगनचुम्बी शिखरों की प्रभा से वह शोभायमान है... विविध देव वहाँ क्रीड़ा कर रहे हैं। कैलाश पर्वत की ऐसी अद्भुत शोभा देखकर महाराज भरत आनन्दविभोर हो उठे। जिसप्रकार भरत चक्रवर्ती राजाओं के अधिपति होने से 'भूभृत' हैं, उसी प्रकार कैलाश पर्वत भी पर्वतों का अधिपति होने से 'भूभृत' है। धर्मबुद्धि को धारण करनेवाले महाराज भरत पर्वत की तलहटी में वाहन से उतर कर पैदल चलने लगे। भगवान के दर्शनार्थ पैदल पर्वत पर चढ़ते हुए भरत को किंचित् खेद नहीं हुआ—यह ठीक ही है; क्योंकि कल्याण के इच्छुक पुरुषों को आत्महित करनेवाली क्रियाएँ खेद का कारण नहीं होती। महाराज भरत उस कैलाश पर्वत पर जा रहे थे, जहाँ केवलज्ञान साम्राज्य के स्वामी ऋषभदेव भगवान विराजमान थे। धर्मचक्री पिता का चक्रवर्ती पुत्र

विनयपूर्वक उनके दर्शनार्थ जा रहा है... अहा! कैसा होगा भक्ति का वह अद्‌भुत दृश्य! जिन्होंने अपने पितामह (ऋषभदेव) को कभी देखा नहीं है, ऐसे बारह सौ भरतपुत्र भी पितामह के दरबार में उनके दर्शनार्थ उल्लासपूर्वक चले जा रहे हैं।

चढ़ते-चढ़ते सब पर्वत पर पहुँचे। भरत महाराज जब पर्वत की शोभा निहार रहे थे, तब उनके पुरोहित ने कहा : 'हे देव! यह पर्वत अनेक आश्चर्यों से भरा हुआ है; समस्त लोक की शोभा को लाँघ जानेवाले इस पर्वत की महिमा इतनी ही बस है कि यहाँ जगद्‌गुरु भगवान ऋषभदेव विराजमान हैं; जिससे यह पर्वत तीर्थरूप है। अनेक नदियाँ, गुफाएँ और उपवन यहाँ शोभा दे रहे हैं। इधर देवों का आगमन हो रहा है...उधर सिंहादि पशु नम्रतापूर्वक भगवान के समवसरण में चले आ रहे हैं... और वहाँ देखिये, वह सिंह अहिंसक होने पर भी मात्र क्रीड़ा के हेतु पर्वत की गुफा से एक विशाल सर्प को खींच रहा है, किन्तु उस अजगर को खींचने में असमर्थ होने से उसने उसे छोड़ दिया है। मुनिवरों का निवास होने से यहाँ के उपवन भी मुनि समान मालूम होते हैं। जिसप्रकार मुनि अनेक प्रकार के द्वन्द्व (शीत-उष्ण आदि बाधाएँ) सहन करते हैं, उसीप्रकार यह उपवन भी अनेक प्रकार के द्वन्द्वों (पशु-पक्षी युगलों) को धारण करते हैं; जिसप्रकार मुनि सबका कल्याण करते हैं; उसीप्रकार यह वन प्रदेश भी सबका कल्याण करता है; जिसप्रकार मुनि, आश्रितों के संताप को हरते हैं; उसीप्रकार यह वन भी आश्रितों के ग्रीष्म संताप को दूर करते हैं। वन में महा मुनियों के समूह विराज रहे हैं और उनके पठन-पाठन की मधुर ध्वनि वातावरण को रमणीक बना रही है। सदा वन में वास करनेवाले और धरती पर सोनेवाले ऐसे हिरनों तथा मुनियों की टोलियाँ यहाँ सदा विचरती हैं और कहीं-कहीं सिंहों की भीषण गर्जना से वन गूँज उठता है। इस प्रकार यह पर्वत सदा शांत और भयंकर रहता है, किन्तु इस समय तो जिनेन्द्रदेव के सन्निधान से यह मात्र शांत ही है... इसकी भयंकरता लुप्त हो गई है।

भतरजी हर्षपूर्वक अवलोकन करते-करते भगवान के धर्म दरबार की ओर जा रहे हैं और पुरोहित उनसे कहता है कि—'देखिये! यहाँ सिंह और हाथी एक साथ बैठे हैं। सिंह अपने नाखूनों से हाथी के घाव को प्रेमपूर्वक सहला रहा है। इधर हिरन अपने बच्चों को लेकर सिंह के साथ-साथ निर्भयता से चारण मुनियों की गुफा में प्रवेश कर रहे हैं। अहा! महान आश्चर्य है कि पशुओं का समूह भी—जिन्हें वन के भय का अथवा शोभा का कोई लक्ष नहीं है ऐसे—मुनियों के पीछे-पीछे विचर रहा है। हे स्वामी! अष्टापद नाम के जीवों से सेवित यह कैलाश पर्वत भविष्य में 'अष्टापद'

के नाम से प्रसिद्ध होगा। ('अष्टापद' यह कैलाश का दूसरा नाम है; 'अष्टापद आदीश्वर स्वामी....' और 'नमों ऋषभ कैलास पहारं'—इसप्रकार दोनों नामों का उल्लेख मिलता है।)

विविध मणि-रत्नों की रंग-बिरंगी प्रभा से शोभायमान कैलाश पर्वत की महिमा गाते हुए पुरोहित कहता है कि—हे स्वामी! जिनेन्द्रदेव के प्रभाव से यह पर्वत भी मानों जिनेन्द्र-समान लगता है। जिसप्रकार जिनेन्द्रदेव के निकट देव आते हैं, उसीप्रकार पर्वत के निकट भी देव आते हैं; जिसप्रकार जिनेन्द्रदेव महान हैं, उसीप्रकार यह पर्वत भी महान है; जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान अचल (निजस्वरूप में स्थिर) हैं, उसीप्रकार यह पर्वत भी अचल है; जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान को सिंहासन है, उसीप्रकार इस पर्वत को भी सिंहासन (सिंहों के आसन) हैं, अर्थात् यहाँ अनेक सिंह आसन लगाकर बैठे हैं। जिसप्रकार जिनेन्द्रदेव का शरीर शुद्ध स्फटिक समान पवित्र एवं परम उदार हैं, उसीप्रकार यह पर्वत भी शुद्ध स्फटिक समान निर्मल एवं उदार शरीर वाला है। हे देव! ऐसा यह पर्वतराज कैलास शुद्धात्मा की भाँति अपना कल्याण करनेवाला हो!

इसप्रकार पुरोहित के मुख से पर्वत की उत्कृष्ट शोभा का वर्णन सुनकर महाराज भरत अत्यन्त आनन्दित हुए... जिसका मन भगवान के दर्शनों के लिये अति उत्कंठित है, ऐसे भरतराज प्रसन्नचित्त से कुछ आगे बढ़े और निकट ही जिनेश्वरदेव का समवसरण दृष्टिगोचर हुआ... आश्चर्य के साथ हर्षपूर्वक उनके मुख से जय-जयकार के उद्‌गार निकल पड़े कि—'अहा! जय हो... ऋषभदेव भगवान की जय हो!' पुष्पवृष्टि और दुंदुभिनाद से उन्होंने जान लिया कि यहाँ निकट ही त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र भगवान विराजमान हैं। किंचित् भी श्रम के बिना शेष मार्ग पार करके भरत महाराज, जिनेन्द्र देव के समवसरण मंडल तक पहुँच गये। वहाँ देव, मनुष्य और तिर्यंच आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं, इसलिये गणधर देवादि ने उसे 'समवसरण' ऐसा सार्थक नाम दिया है।

महाराज भरत चक्रवर्ती बारह सौ पुत्रों तथा अन्य परिकर सहित कैलाश पर्वत पर समवसरण में धूलिशाल के निकट आ पहुँचे... धूलिशाल को पार करके उन्होंने मानस्तंभ की पूजा की; मानस्तंभ के चारों ओर जिनेन्द्र देव की वाणी समान स्वच्छ जल से भरी हुई वापियाँ भी भरतराज ने देखीं और आगे बढ़कर वनभूमि के चैत्यवृक्ष में स्थित जिनबिम्बों की पूजा की। तत्पश्चात् जिनेन्द्र भगवान के जयजयकार से व्याप्त ऐसी ध्वजभूमि को लाँघकर वनभूमि में प्रवेश किया, वहाँ सिद्ध प्रतिमा संयुक्त सिद्धार्थ वृक्षों की प्रदक्षिणा करके सिद्ध भगवन्तों की पूजा की।

जिनेन्द्रदेव की समीपता के कारण जो दिव्य शोभा को धारण करता है, ऐसे समवसरण को देखकर परम आश्चर्य को प्राप्त महाराज भरत ने द्वारपाल देवों की आज्ञा लेकर भगवान की सभा में प्रवेश किया। उनके साथ बारह सौ सुन्दर राजकुमारों को देखकर देव भी आश्चर्यचकित हो जाते थे... और वे राजकुमार, भगवान के दरबार को देखकर आश्चर्यमुग्ध हो रहे थे।

भरतराज ने भगवान ऋषभदेव के धर्म दरबार में समस्त जगत को आश्रय देने वाले 'श्रीमण्डप' को देखा। उस श्रीमण्डप में जिनेन्द्रदेव के दर्शन से उत्पन्न हुई अतिशय प्रीति के कारण जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं, ऐसे बारह-संघों (बारह सभाओं के जीवों को) देखा। स्नेह पूर्वक उन्हें देखते हुए भरतराज ने प्रथम पीठिका पर पहुँच कर प्रदक्षिणा की; उस पीठिका पर सूर्य मण्डल समान तेजस्वी धर्म चक्र का बहुमान किया और द्वितीय पीठिका की आठ महाध्वजाओं का भी सन्मान किया। तत्पश्चात् उन विद्वान धर्मात्मा चक्रवर्ती ने—जिस पर दिव्य गंधकुटी शोभायमान है, ऐसी तृतीय पीठिका का—जगद्गुरु परम धर्मपिता भगवान श्री ऋषभदेव को देखा... केवलज्ञान और दिव्यध्वनि आदि वैभव से अचिन्त्य माहात्म्य को धारण करनेवाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान को देखते ही भरत महाराज का हृदय आनन्दविभोर हो गया और भक्तिपूर्वक घुटने टेककर उन्होंने भगवान को नमस्कार किया। भरत के साथ-साथ बारह सौ पुत्रों ने भी भगवान को नमस्कार किया। पिता जब खड़े होते तो वे भी खड़े हो जाते और पिता जब वंदना करते, तब वे भी वंदना करते। इसप्रकार विनयपूर्वक भगवान के दर्शन किये और पश्चात् अष्ट द्रव्य से भगवान की महापूजा की। पूजन विधि समाप्त करके भक्तिवश भरत ने अनेक स्तोत्रों द्वारा भगवान की स्तुति की—

'हे भगवान! आप अपार गुणधारी परमात्मा हैं, और मैं तो शक्तिहीन पामर हूँ; किन्तु महान भक्ति से प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता हूँ। हे देव! गणधरों को भी अगम्य ऐसे कहाँ आपके अनंत गुण और कहाँ मुझ जैसा मंद पुरुष?—परन्तु हे भगवान! आपके गुणों की थोड़ी-सी भक्ति भी महान फल देने में समर्थ है... इसलिये आपके गुणों की भक्ति से प्रेरित होकर मैं आपकी स्तुति करता हूँ। हे नाथ! जब आपको केवलज्ञान हुआ, तब आपके ज्ञान ने लोक मर्यादा छोड़ दी, अर्थात् अलोक को भी जान लिया। आपकी वाणी में आनेवाले तत्त्व आपकी सर्वज्ञता को प्रसिद्ध करते हैं। जिस प्रकार अंधकार में मयूर यद्यपि दिखाई नहीं देता, तथापि अपने मधुर केकारव द्वारा वह पहिचानने में आ जाता है, उसीप्रकार आपका आप्तपना (-सर्वज्ञपना-) यद्यपि छद्मस्थ को प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता, तथापि आपके सत्यार्थ वचन ही आपकी सर्वज्ञता को प्रसिद्ध कर रहे हैं।

प्रभो ! आपकी आत्मिक सम्पदा के अभ्युदय की तो क्या बात,—बाह्यविभूति भी आश्चर्यकारी है। प्रभो ! आप हितोपदेशी हैं तथा मोक्षमार्ग के प्रणेता हैं। आपकी दिव्यध्वनि, जो वचन नहीं बोल सकते, ऐसे पशु-पक्षियों के भी हृदय-अंधकार को दूर कर देती है। आपके चरणों में नम्रीभूत इन सुरनरों के मस्तक पर पड़ने वाली आपके चरण-नखों की प्रभा ऐसी शोभायमान प्रतिभासित होती है कि मानों आपकी प्रसन्नता के अंश ही उनके सिर पर बिखर गये हों ! और आपकी यह सभाभूमि तो मानों तीनों लोक की सर्वोत्तम वस्तुओं का संग्रहस्थान हो-ऐसी सुशोभित है। हे स्वामी ! ऐसे दिव्य समवसरण वैभव में भी आपको रागभाव नहीं है—यह आपके वैराग्य की अतिशयता है, वह आपकी वीतरागता को प्रगट करती है।

हे नाथ ! आपका शासन पवित्र है; आप मुझे भी पावन कीजिये।

हे परमेश्वर... आपकी जय हो !

हे जगद् गुरु.... आपकी जय हो !

हे सर्वहितैषी.... आपकी जय हो !

हे अनंतचतुष्ट के नाथ... आपकी जय हो !

हे जगत् के धर्म पिता..... आपकी जय हो !

हे जगत् बंधु.... आपकी जय हो !

हे सर्वज्ञ-वीतराग.... आपकी जय हो !

हे जगत् में श्रेष्ठ..... आपकी जय हो !

हे मंगलस्वरूप.... आपकी जय हो !

हे परमशरणभूत.... आपकी जय हो !

हे धर्मरथ के सारथी... आपकी जय हो !

(कैलाश पर्वत पर धर्मात्मा भरत चक्रवर्ती भगवान ऋषभदेव की अत्यन्त भावपूर्वक स्तुति कर रहे हैं:—)

हे परम आनंदमय परमात्मा.... आपको नमस्कार हो !

हे लोकालोकप्रकाशक परमात्मा.... आपको नमस्कार हो !

हे रत्नत्रयतीर्थप्रवर्तक परमात्मा... आपको नमस्कार हो !

हे जिनेन्द्र ! आज आपके दर्शन से मेरा जीवन धन्य हो गया है। रत्नत्रयरूपी पवित्र जल से

भरे हुए आपके तीर्थ-सरोवर में आज चिरकाल पश्चात् स्नान करके मैं पवित्र हुआ हूँ। आपके चरण-नख की कान्ति मेरे मस्तक पर पड़ रही है, जिससे मेरे पाप धुल गये हैं। प्रभो! एक ओर तो मुझे अन्य के शासन रहित ऐसा चकव्रर्ती का वैभव प्राप्त हुआ है और दूसरी ओर समस्त लोक को पवित्र करने वाली आपके चरणों की सेवा प्राप्त हुई है। हे भगवान! 'दिशाभ्रम' होने से (-मूढ़ता से, अथवा तो दिग्विजय के हेतु चारों दिशाओं में भ्रमण होने से) मैंने जिन पापों का उपार्जन किया था, वे आपके दर्शनमात्र से (सूर्य अंधकारवत्) दूर हो गये। हे नाथ! आपके गुणों की स्तुति द्वारा मैं इतना ही चाहता हूँ कि आपके पवित्र चरण कमल में सदैव मेरी भक्ति बनी रहे।''

—इसप्रकार स्तुति करके भरतराज ने भक्तिपूर्वक जिनराज को नमस्कार किया। तत्पश्चात्, त्रिलोकीनाथ ऋषभजिनेन्द्र के दर्शन-स्तवन से उत्पन्न आनन्दाश्रुओं से जिनका मुख कुछ-कुछ भीग रहा है तथा जिनके अन्तर में प्रकाश हो रहा है—ऐसे उन भक्तराज भरत ने गणधरदेव की आज्ञापूर्वक श्रीमण्डप के ग्यारहवें प्रकोष्ठ में (मनुष्यों की सभा में) स्थान ग्रहण किया। आज समवसरण में चक्रवर्ती का आगमन एक नई बात थी। चक्रवर्ती के आगमन से समवसरण के सभाजन हर्षित हुए... धर्मसभा में बैठकर भगवान ऋषभदेव के श्रीमुख से दिव्यध्वनि द्वारा धर्म का स्वरूप सुनकर महाराज भरत अत्यन्त प्रसन्न हुये... सच ही है, अपने हित का अवसर प्राप्त होने पर किस बुद्धिमान को प्रसन्नता नहीं होगी? भरत को आज ६०,००० वर्ष बाद अपने पिता आदिनाथ भगवान के दर्शन हुए... और भरत के पुत्र तो अपने आदिनाथ-पितामह को प्रथम बार देखकर परम आश्चर्य में डूब गये.....

इसप्रकार, कैलाश पर्वत पर भगवान ऋषभदेव के दर्शन करके तथा उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण कर, भरत महाराजा अयोध्या की ओर लौटने के लिये तत्पर हुए... भगवान के पादपीठ में मुकुट झुकाकर उन्होंने अपने पिता आदिनाथ भगवान की आज्ञा ली तथा गणधरादि मुनिवरों को भी मस्तक झुकाकर नमस्कार किया... और फिर अयोध्या जाने के लिये भगवान के प्रति अपनी प्रसन्न दृष्टि को मुश्किल से हटाकर समवसरण से प्रस्थान किया। भगवान के दर्शनों से जिनके नेत्रकमल खिल गये हैं और जिनके रोम-रोम में हर्ष छा गया है, ऐसे उन भरत महाराज के पीछे-पीछे बारह सौ राजकुमार तथा अनेक राजा कैलाश पर्वत से उतरते हुए मार्ग में हर्षपूर्वक भगवान के समवसरण की चर्चा कर रहे थे।

कैलाश-यात्रा करके भरतराज जब सेना के पड़ाव के निकट पहुँचे, तब समस्त सेना ने

उत्साहपूर्वक उनका स्वागत किया। यह सर्व जीव धर्म को प्राप्त करें—ऐसी भावनापूर्वक उनका उत्साह देखते-देखते सम्राट ने अपने महल में प्रवेश किया। वहाँ रानियों का हर्षोल्लास देखते ही बनता था। उन्होंने दीपकों आदि से भरतजी का सन्मान करके फिर समवसरण की पावन भूमि से स्पर्शित उनके चरणकमलों का स्पर्श किया। कैलाश-यात्रा से लौटे हुए पुत्र भी माताओं के चरणों में झुक-झुककर समवसरण का तथा ऋषभदेव भगवान का हर्षपूर्वक वर्णन करने लगे।

जब माताओं के चरणों में उनके पुत्र नमस्कार कर रहे थे, उस समय उनकी माताएँ कह रही थीं कि—'तुम आज हमें नमस्कार न करो; क्योंकि आज तुम हमारे पुत्र नहीं किन्तु तीर्थपथिक हो, इसलिये हमें ही तुमको नमस्कार करना चाहिये।'—ऐसा कहकर माताएँ रोकती थीं, तथापि पुत्र नमस्कार कर रहे थे। माताओं ने पुत्रों के मस्तक पर हाथ रखकर उन्हें आशीर्वाद दिया और उनके मुँह से कैलाश-यात्रा का उल्लास भरा वर्णन सुनकर अति प्रसन्न हुईं।

❀ ❀ ❀

[कैलाश-यात्रा के पश्चात् महाराजा भरत अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं... अयोध्या के निकट आकर चक्र अटक जाता है... भरत-बाहुबलि का युद्ध होता है... बाहुबलि वैराग्य प्राप्त करके मुनि होकर एक वर्ष तक अडिगरूप से ध्यान में लीन रहते हैं... भरत चक्रवर्ती उनकी पूजा करने आते हैं... और अन्त में बाहुबलि केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।—यह सब वृत्तान्त अगले अंकों में दिया जायेगा।]

कारणशुद्ध पर्याय

[९]

(नियमसार गाथा ११-१२-१३)

गतांक १८३ से आगे

जिसप्रकार पिता अपने पुत्र को सम्पत्ति का उत्तराधिकार सौंपता है, उसीप्रकार परमपिता तीर्थंकर एवं संत मुनि जिज्ञासु भव्यजीवों को यह चैतन्य निधान का उत्तराधिकार दे रहे हैं।

देखो भाई, यह विषय अकेले अध्यात्म का है; अंतर की दृष्टि का प्रयोजनभूत विषय है। प्रथम तो आत्मा की पात्रतापूर्वक ज्ञानी-धर्मात्मा से उत्साहपूर्वक ऐसी बात सुनकर, फिर अंतर में आत्मा के साथ मिलान करके उसरूप परिणमित करने का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मा की सच्ची लगनपूर्वक स्वभाव की ओर के अतिप्रयत्न से अंतर में परिणमन होने पर जिसे अपूर्व आनन्द का वेदन होता है, उस आत्मा में नि:शंक मोक्ष की दृढ़ प्रतिज्ञा आ जाती है। फिर वह जीव पराश्रय से धर्म को नहीं ढूँढ़ता; मेरे धर्म का, मेरे सुख का, मेरे मोक्ष का साधन मेरे में मेरे निकट वर्तमान में उपस्थित है—ऐसा वह धर्मात्मा जानता है।

भगवान और उसका फल

गाथा ११-१२ की टीका में 'ब्रह्मोपदेश' करके श्री पद्मप्रभ मुनिराज ने आत्मा का परम ज्ञानस्वभाव बतलाया और ऐसे सहज चैतन्यविलासरूप से आत्मा की भावना करने को कहा।

ऐसी आत्मभावना का विशेष प्रमोद आने पर अब मुनिराज पाँच कलश कहकर उस आत्मभावना का फल तथा उसकी महिमा बतलाते हैं;

हे भव्यजीवों! ज्ञान के प्रकार जानकर तुम भेदज्ञान प्रगट करो; समस्त शुभ-अशुभ को संसार का कारण जानकर अत्यन्तरूप से छोड़ो, और सहज ज्ञानस्वभाव की भावना करो। सहज ज्ञानस्वभाव की भावना द्वारा पुण्य-पाप से अतिक्रान्त अर्थात् समस्त शुभाशुभ से दूर जाकर अंतरस्वरूप में स्थिर होने पर भव्यजीव परिपूर्ण शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। सहजज्ञान-स्वरूप आत्मा की भावना का यह फल है।

देखो, यह ध्रुवपद प्राप्त करने का उपाय! अन्य लोगों में कहा जाता है कि भगवान ने ध्रुव को

ध्रुवपद प्रदान किया।—यहाँ ध्रुवपद देनेवाला अन्य कोई भगवान नहीं है, किन्तु ध्रुव ऐसा जो निज कारणपरमात्मा, उसका ध्यान करने से वह स्वयं अपने को ध्रुवपद (-मोक्षपद) प्रदान करता है; इसलिये बुध पुरुषों को अन्तर में आनन्द से परिपूर्ण ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को भाना चाहिये।

ज्ञान के अनेक भेद कहे; उन्हें जानकर क्या करना?-तो कहते हैं कि भेद के अवलम्बन में नहीं अटकना चाहिये; ज्ञान के क्षणिक भेदों जितना आत्मा नहीं है; आत्मा त्रिकाली सहज ज्ञानस्वरूप है—ऐसा जानकर वैसे सहजज्ञानस्वरूप से आत्मा को भाने से अपूर्व भेदज्ञान होता है और संसार के मूल का छेदन हो जाता है। शुभकार्य को भी यहाँ संसार का मूल कहा है; उस शुभ में रहकर मोक्षसुख प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु उस शुभ को पार करने से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, इसलिये शुभाशुभ से पार ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा को भाना चाहिये।

इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा आत्मा की भावना करने से मोह निर्मूल होकर केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है। श्री मुनिराज बहुमानपूर्वक कहते हैं कि अहो! भेदज्ञानरूपी वृक्ष का यह सत्फल वंदनीय है और जगत को मंगलरूप है।

देखो, यह केवलज्ञान की महिमा! भेदज्ञानरूपी वृक्ष को आत्मा की भावनारूपी पानी पिलाते-पिलाते यह केवलज्ञानरूपी फल पके हैं। यह केवलज्ञान आत्मा को तो मंगलरूप है और जगत को भी वह मंगलरूप है; क्योंकि जगत के जो जीव ऐसे केवलज्ञान का स्वरूप लक्ष में लेते हैं, उन जीवों का ज्ञान, राग से भिन्न होकर ज्ञानस्वभाव में पहुँच जाता है और ज्ञानस्वभाव के आश्रय से उन्हें भेदज्ञानरूप अपूर्व मंगल प्रगट होता है।—इसप्रकार केवलज्ञानरूपी सुप्रभात जगत को मंगलरूप है, वंद्य है, पूज्य है, आदरणीय है।

अब केवलज्ञानरूप कार्य के साथ उसके कारण को भी याद करके कहते हैं कि सहजज्ञान मोक्ष में जयवंत वर्तता है। मोक्षदशा में केवलज्ञान तो जयवंत वर्तता है और उसके साथ उसके कारणरूप ऐसा सहजज्ञान भी जयवंत वर्तता है। कार्य और कारण का एकसाथ ही वर्णन करना यह टीकाकार की मुख्य शैली है। इसमें मार्ग और मार्गफल दोनों बतला दिये हैं।—किसप्रकार? सहजज्ञानस्वरूप की भावना करने को कहा, वह मार्ग है और केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह मार्ग का फल है।

ज्ञान कैसा है?—कि आनन्द में विस्तारवाला। केवलज्ञान सम्पूर्ण आनन्द में विस्तारवाला है और सहजज्ञान त्रिकाल आनन्द में विस्तारवाला है; साधक का सम्यग्ज्ञान भी अंशतः आनन्द में

विस्तारवाला है। इसप्रकार ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द होता है, वह बतलाया। जिस ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन न हो, वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान नहीं किंतु अज्ञान है।

ज्ञान के अनेक प्रकारों आदि को जानकर क्या करना चाहिये?—श्री मुनिराज कहते हैं कि—'सहजज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है, ऐसे शुद्ध चैतन्यमय आत्मा को जानकर, मैं निर्विकल्प होता हूँ'—बस! यही करना है।

इसप्रकार जीव के ज्ञानोपयोग सम्बन्धी वर्णन समाप्त हुआ। (–गाथा ११-१२ समाप्त)

अब तेरहवीं गाथा में दर्शन-उपयोग के प्रकार कहेंगे।

☆ ☆ ☆

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवरचित नियमसार शास्त्र के जीव अधिकार की वचनिका हो रही है। जीव उपयोगस्वरूप है; वह उपयोग ज्ञान और दर्शन ऐसे दो भेदवाला है; उसमें से ज्ञान उपयोग के प्रकारों का वर्णन १०-११-१२वीं गाथाओं में किया; अब दर्शन-उपयोग के प्रकारों का वर्णन करते हैं:—

[गाथा-१३]

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं॥

जिसप्रकार ज्ञान उपयोग स्वभाव और विभाव—ऐसे दो प्रकार का कहा है, उसीप्रकार यह दर्शन उपयोग भी स्वभावरूप और विभावरूप, ऐसे दो प्रकार का है। जो केवल इन्द्रिय रहित और असहाय है, वह स्वभाव-दर्शन उपयोग है।

चैतन्य अनुविधायी परिणाम, सो उपयोग है। ज्ञान की भाँति यह दर्शन-उपयोग भी चैतन्य का ही अनुसरण करनेवाला है। टीकाकार ने जिसप्रकार ज्ञानस्वभाव में कारण और कार्य ऐसे दो प्रकारों का वर्णन किया था, उसीप्रकार इस स्वभावदर्शन में भी कारण और कार्य ऐसे दो प्रकारों का वर्णन करते हैं। इस शास्त्र में 'नियमसार' अर्थात् नियम से-अवश्य करने योग्य ऐसे शुद्ध रत्नत्रयरूपी कार्य का प्रतिपादन है, इसलिये टीकाकार ने उस 'कार्य' के साथ-साथ उसके 'निकटवर्ती कारण' का भी वर्णन किया है। इसप्रकार 'कार्य का' 'कारण' बतलाकर एकदम अंतर्मुखता कराई है तथा बाह्यकारण के अवलम्बन की बुद्धि छुड़ाई है।

स्वभाव-दर्शन-उपयोग दो प्रकार का है—एक कारणस्वभावदर्शन-उपयोग और दूसरा

कार्यस्वभावदर्शन-उपयोग; उनमें से कार्यस्वभावरूप केवलदर्शन तो तेरहवें गुणस्थान में नवीन प्रगट होता है और कारणस्वभावरूप दर्शन त्रिकाल है।

अब यहाँ टीका में कारणस्वभावदर्शन-उपयोग के बदले 'कारण-दृष्टि' कहकर उसका 'स्वरूपश्रद्धान' रूप से वर्णन करते हैं। कैसी है कारणदृष्टि?—कि शुद्ध आत्मा के स्वरूपश्रद्धानमात्र है। स्वरूपश्रद्धानरूप से यह कारणदृष्टि त्रिकाल है, यह स्वरूपश्रद्धान, सो सम्यक् श्रद्धा का कारण है।

जिसप्रकार ११-१२वीं गाथा में कारणस्वभावज्ञान-उपयोग को 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहा था, उसी प्रकार यहाँ कारणस्वभावदृष्टि को 'स्वरूपश्रद्धानमात्र' कहा है। यह स्वरूपश्रद्धान त्रिकाल है उसके आश्रय से सम्यक् श्रद्धान नया प्रगट होता है।

अब, श्रद्धा किसकी श्रद्धा करती है? सो यहाँ बतलाते हैं:—कारणसमयसारस्वरूप आत्मा, कि जो सदा पावनरूप है, औदयिकादि चार भावों से अगोचर सहजपरमपारिणामिक-भावस्वरूप है, सदा निरावरण है, निजस्वभाव सत्तामात्र है, परम चैतन्यसामान्यस्वरूप है, अकृत्रिम परम स्व-स्वरूप में अविचलस्थितिमय चारित्रस्वरूप है, नित्य शुद्ध निरंजन ज्ञानस्वरूप है और समस्त विभावों के नाश का कारण है—ऐसे आत्मा को श्रद्धा स्वीकार करती है। कारणरूप ऐसी स्वरूपश्रद्धा में तो ऐसे आत्मा की श्रद्धा करने का त्रिकाल सामर्थ्य है, और उसमें से व्यक्त होनेवाली सम्यक् श्रद्धारूप पर्याय ऐसे आत्मा की श्रद्धा करने का कार्य करती है।

यहाँ वर्णन तो दर्शन-उपयोग का चलता है, किन्तु दर्शन की भाँति श्रद्धा भी निर्विकल्प होने से, तथा 'नियम' में (अर्थात् मोक्षमार्ग में) वह आवश्यक कर्तव्य होने से टीकाकार मुनिराज ने श्रद्धा का वर्णन किया है।

कारणदृष्टि अर्थात् स्वरूपश्रद्धा; उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनरूपी कार्य होता है।—ऐसा कहा, उससे ऐसा नहीं समझना कि अकेली एक श्रद्धा को पृथक् करके उसका आश्रय होता है। श्रद्धा का भेद करके उसका आश्रय नहीं होता, परन्तु परमपारिणामिकस्वभावी चिदानन्दस्वभाव के सेवन में सम्यग्दर्शन के कारण का सेवन भी साथ ही आ जाता है, तथा उस कारण में से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है। इसप्रकार निर्मल श्रद्धारूपी कार्य प्रगट होने का कारण (अर्थात् स्वरूपश्रद्धान) आत्मा में सदैव वर्त रहा है—ऐसा यहाँ बतलाना है। यह स्वरूपश्रद्धान अथवा तो कारणस्वभावदृष्टि, वह सम्यग्दर्शन का कारण है। और यदि 'उपयोग' के भेदरूप से लें तो

कारणदृष्टि अर्थात् कारणस्वभावदर्शन-उपयोग वह केवलदर्शन का कारण है। केवलदर्शन तो कार्यस्वभावदर्शन-उपयोग कहा जाता है। भगवान सर्वज्ञ का केवलज्ञान जिसप्रकार लोकालोक को जानता है, उसीप्रकार यह केवलदर्शन लोकालोक को देखता है। अहा, आत्मस्वभाव की अचिन्त्य गंभीर महिमा संतों ने प्रगट की है।

परमपारिणामिकस्वभावी आत्मा चार भावों से अगोचर है—ऐसा यहाँ कहा है। यद्यपि औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिकभाव से तो वह अनुभव में आता है, यानी उन भावों से तो वह गोचर होता है, परन्तु वे उदय-उपशम आदि चारों क्षणिक भाव हैं; उन क्षणिकभावों के लक्ष से पंचमभाव पकड़ में नहीं आता, उस अपेक्षा से चार भावों से अगोचर कहा है। तथा उन उदयादि चारों भावों में कर्म के उदयादि की अपेक्षा आती है, वे त्रिकाल एकरूप भाव नहीं हैं, इसलिये उन चारों भावों को 'विभाव' भाव कहा है। यहाँ 'विभाव' का अर्थ विकार नहीं समझना चाहिये। क्षायिकभाव तो पर्याय-अपेक्षा से स्वभावभाव है; किंतु पहले वह भाव नहीं था और फिर नया प्रगट हुआ—इसप्रकार उसमें एकरूपता नहीं रही, इसलिये उसे विभाव कहा है; और त्रिकाल एकरूप ऐसे परम पारिणामिकस्वभाव को सदा पावनरूप निजस्वभाव कहा।—ऐसे आत्मा की श्रद्धा करने की शक्ति स्वरूपश्रद्धान में त्रिकाल विद्यमान है, वह कारणरूप है, और उसमें से ऐसे आत्मा की श्रद्धा का व्यक्त कार्य प्रगट हो, वह सम्यग्दर्शन है, वह मोक्षमार्ग में नियमरूप कर्तव्य है।

क्षायिकभाव के अभाव के समय भी जिसका सद्भाव है अर्थात् क्षायिकभाव की भी जिसे अपेक्षा नहीं है, ऐसे निरपेक्ष त्रिकाल एकरूप परमस्वभाव के आश्रय से ही धर्मरूप कार्य होता है। उपशम-क्षयोपशम या क्षायिकभाव धर्म हैं किन्तु वे भाव पंचम-परमभाव के आश्रय से ही प्रगट होते हैं, इसलिये ऐसे परमस्वभावरूप से आत्मा को भाना चाहिये, ऐसा उपदेश है। इसमें 'भावना' वह मोक्षमार्ग है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों उसमें आ जाते हैं।

आत्मा का परमपारिणामिकस्वभाव त्रिकाल है; उस स्वभाव का अवलम्बन करके उसकी भावना से ही मोक्ष का साधन प्रगट होता है। द्रव्यस्वभाव में तो सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक का कारण होने की शक्ति त्रिकाल है; उस कारणशक्ति को कोई आवरण नहीं है; किन्तु जब उस कारणशक्ति का अवलम्बन लेकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य किया जाये, तब उस कारणशक्ति का कारणपना सार्थक होता है।—ऐसी कारण-कार्य की संधि है।

देखो भाई, यह विषय अकेले अध्यात्म का है; यह अंतर्दृष्टि का प्रयोजनभूत विषय है।

प्रथम तो आत्मा की पात्रतापूर्वक ज्ञानी से उत्साहपूर्वक ऐसी बात सुनकर, फिर अंतर में आत्मा के साथ मिलान करके उसरूप परिणमित करने का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मा की सच्ची लगन -पूर्वक स्वभाव की ओर के अति प्रयत्न से अंतर में परिणमन होने पर अपूर्व आनन्द का वेदन होता है और आत्मा में मोक्ष की दृढ़-प्रतिज्ञा आ जाती है। फिर वह जीव पराश्रय से धर्म को नहीं ढूँढ़ता। मेरे धर्म का, मेरे सुख का, मेरे मोक्ष का साधन मेरे में मेरे निकट वर्तमान में उपस्थित है—ऐसा वह धर्मात्मा जानता है। अपना स्वभाव अपने पास ही है, वह अपने से दूर नहीं है; अंतर में दृष्टि करके अपने स्वभाव का आश्रय करे तो धर्म होता है; इसके अतिरिक्त बाह्य आश्रय से अनंत काल में भी धर्म नहीं होता। इसप्रकार स्वभाव को लक्ष में लेकर उसकी महिमा करते-करते उसी में एकाग्र हो जाना—ऐसा ज्ञानियों का उपदेश है।

भाई, अनंत दु:खमय ऐसे संसार के जन्म-मरण का मूल छेदने की यह बात है। अरे, इस संसार में अनेक प्रकार के जो दु:ख हैं, उनका मूल मिथ्यादर्शन है; उसे दूर करने के लिये आत्मा की यथार्थ पहिचानपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। आत्मार्थी-जिज्ञासु ऐसा विचार करता है कि अरे रे! अभी तक मैं सम्यग्दर्शन के बिना अनंत संसार में भटक-भटककर बहुत दु:खी हुआ हूँ। अब, सर्व उद्यम से सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही मेरा प्रथम कर्तव्य है। अंतर में अपने आत्मा का ही मुझे लक्ष करना चाहिये; उसके अतिरिक्त किसे मानूँ या देखूँ? दुनिया तो चली जाती है। सारा संसार मेरे अंतर आत्मा से बाहर है। मेरे कार्य का सम्बन्ध अंतरंग कारण के साथ है, बाह्य में किसी के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा का परमपारिणामिकस्वभाव ध्रुव है, सदा एकरूप है, वह परम आदरणीय है; उसी का आश्रय करने योग्य है। इस पंचमकाल का औदयिकादि चार भावों में समावेश नहीं होता, इसलिये वह चारों क्षणिक भावों से अगोचर है। चार क्षणिक भावों का आश्रय छुड़ाने के लिये उनसे अगम्य कहकर पंचम भाव का आश्रय कराया है। सम्यक्त्वी को वह स्वभाव अंतर में अनुभवगम्य हो गया है। पारिणामिकभाव को चार भावों से अगोचर कहने का आशय ऐसा है कि चार भावों के आश्रय से वह पंचमभाव ज्ञात नहीं होता, परमपारिणामिकस्वभाव के आश्रय से ही वह ज्ञात होता है।—ज्ञात तो होता है क्षायोपशमिक आदि भावों से; किन्तु जब वह भाव अंतर में परमपारिणामिक स्वभाव का आश्रय करे, तभी वह परमस्वभाव को जानता है।

परमपारिणामिक स्वभाव ही आत्मा का 'निजस्वभाव' है; उस निजभाव को आत्मा कभी

छोड़ा नहीं है। कर्म के उदय-क्षय आदि की अपेक्षा उस 'निजस्वभाव' को लागू नहीं होती, इसलिये वह निरपेक्ष है। केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई, उसे जानने के लिये किसी इन्द्रिय या प्रकाश आदि की अपेक्षा न होने से निरपेक्ष कहा जाये, वह अपेक्षा अलग है, किन्तु उस केवलज्ञान पर्याय में कर्म के क्षय की अपेक्षा आती है। पहले वह केवलज्ञान नहीं था और फिर कर्म का क्षय होने से प्रगट हुआ—इसप्रकार उसमें निरपेक्षता नहीं है, एकरूपता नहीं है; इसलिये उस क्षायिकभाव का आश्रय करके भी आत्मा का एकरूप सहज स्वभाव नहीं पहिचाना जा सकता। परमपारिणामिकभाव सदा पावनरूप है; साधक जीव अंतर्मुख होकर उसी का अभिनन्दन करता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि के विचार से कहीं सम्यग्दर्शन या केवलज्ञानादि नहीं होता; किन्तु परिणति जब अंतर्मुख होकर परम स्वभाव में लीन होती है, तभी सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं। व्यवहार के आश्रय से होनेवाला शुभराग तो औदयिकभाव है; जहाँ क्षायिकभाव के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होते, वहाँ औदयिकभाव के आश्रय से तो वे कहाँ से होंगे? इसलिये, व्यवहार के आश्रय से अथवा शुभराग करते-करते उससे परमार्थ की प्राप्ति होगी—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे सम्यग्दर्शन आदि के कारणरूप (-आश्रयरूप) आत्मा के परम स्वभाव की खबर नहीं है। छद्मस्थ को केवलज्ञान तो नहीं होता, इसलिये उसका आश्रय कहाँ रहा?—परम पारिणामिकस्वभाव सर्व जीवों को त्रिकाल है; उसकी महिमा तथा आश्रय करने योग्य है।

व्यवहाररत्नत्रय की भावना से निश्चयरत्नत्रय होता है—ऐसा नहीं है; किन्तु जिसमें त्रिकाल शुद्ध रत्नत्रय की शक्ति विद्यमान है, ऐसे परमस्वभाव की भावना से ही शुद्धरत्नत्रय प्रगट होता है; इसलिये उसी की भावना करने योग्य है।

हे भाई! पहले तू लक्ष में तो ले कि किसकी भावना करने योग्य है? 'जैसी भावना वैसा भवन;' जिसे राग की भावना है, वह राग से लाभ मानकर मिथ्यात्वरूप से परिणमित होता है; जिसे स्वभाव की भावना है, वह स्वभाव का आश्रय करके सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणमित होता है। अरे भाई, जहाँ क्षायिकभावों के आश्रय से भी सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, तो फिर अन्य किसके आश्रय से तुझे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है?—वह कभी प्राप्त नहीं हो सकता; इसलिये राग की या जड़ की क्रिया की भावना छोड़कर अपने चिदानन्दस्वभाव की ही भावना कर; उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि होंगे। अहो, अपने निरावरणस्वभाव को भूलकर लोग बाहरी झंझटों में फँसे हैं;

आंतरिक साधन की भूलकर बाह्यसाधनों में व्यर्थ की हाय-हाय कर रहे हैं।

यह जो परमस्वभाव का वर्णन किया जा रहा है, वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है, और वही स्वभाव, सम्यग्दर्शनादि का कारण है। अंतर्मुख होकर अपने स्वभाव को ही तू सम्यग्दर्शनादि का कारण बना—ऐसा यहाँ संतों का उपदेश है।

समस्त दुष्ट पापोंरूप वीर शत्रुओं की जो सेना है, वह चिदानन्दस्वभाव का अवलम्बन करते ही नष्ट हो जाती है।—देखो, यह चैतन्य की वीरता! उसका अवलम्बन करते ही मिथ्यात्वादि महान शत्रु क्षणमात्र में नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं; विकल्पों और विकारों का समूह चैतन्य के अवलम्बन से इसप्रकार दूर भाग जाता है जैसे सिंह को देखकर बकरों की टोली भागती है। ऐसा वीर आत्मा अपना स्वरूप भूलकर (जिसप्रकार सिंह अपने को बकरा मान बैठा हो तदनुसार) अपने को कर्म से दबा हुआ पामर मान रहा है; किन्तु एकबार यदि अपने स्वभाव की शक्ति को सँभालकर सम्यक्श्रद्धारूपी सिंह-गर्जना करे तो कर्मरूपी बकरे भागते दिखाई दें!

देखो, यह आत्मा के निधान! जिसप्रकार पिता अपने प्रिय पुत्र को सम्पत्ति का उत्तराधिकार सोंपता है, उसीप्रकार परमपिता तीर्थंकर एवं आचार्य भगवन्त जिज्ञासु भव्य जीवों को चैतन्यनिधान का उत्तराधिकार दे रहे हैं। चैतन्यनिधान में रहनेवाली कारणदृष्टि वह स्वरूपश्रद्धानमात्र है—ऐसा बतलाया। अब, उसमें से व्यक्त होनेवाला पूर्ण कार्य कैसा होता है अर्थात् कार्यदृष्टि कैसी होती है, सो बतलाते हैं। केवलज्ञान के साथ वर्तता हुआ केवलदर्शन-उपयोग तथा अवगाढ़ श्रद्धा—इन दोनों का 'कार्यदृष्टि' में समावेश हो जाता है—ऐसा यहाँ समझना।

कैसी है कार्यदृष्टि? कारणदृष्टि तो पारिणामिकभावरूप है, और चार घातिकर्मों के नाश से प्रगट होनेवाली यह कार्यदृष्टि क्षायिकभावरूप है; तथा वह क्षायिकभाव जीव को होती है। क्षायिकजीव कौन? कि जिसे केवलज्ञानादि क्षायिकभाव प्रगट हुए हैं, वह क्षायिकजीव है। कारणशुद्ध जीव परमपारिणामिकभावस्वरूप है; उसमें तो सर्व जीव आते हैं, किन्तु कार्यशुद्धजीव क्षायिकभावरूप है, उसमें केवलज्ञानी भगवन्त ही आते हैं। यहाँ क्षायिकभावरूप से परिणमित जीव को ही अभेदविवेक्षा से 'क्षायिकजीव' कह दिया है। उस क्षायिकजीव ने केवलज्ञान द्वारा तीन भुवन को जाना है, तथा अपने स्वभाव से उत्पन्न होनेवाले परम वीतरागसुखामृत का वह समुद्र है। अहा! केवली भगवन्तों को पर्याय में वीतरागी सुख का समुद्र उछला है। 'कारण' का सेवन करते-करते यथाख्यातरूप कार्यशुद्धचारित्र उन्हें प्रगट हो गया है। और वे भगवन्त (अर्थात् कार्यदृष्टिवाले

क्षायिकजीव) सादि-अनंत अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्ध सद्भूतव्यवहारनयात्मक हैं। देखो, यहाँ सर्वज्ञ को नयस्वरूप कहा है, तो फिर 'नय जड़ है'—यह बात कहाँ रही? यहाँ केवली को नयस्वरूप कहा, उससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि उनको भी ज्ञान में 'नय' होते हैं। 'नय' तो श्रुतज्ञान में होते हैं, केवलज्ञान में नय नहीं होते; परन्तु साधकजीव जब केवली भगवान के स्वरूप को ध्यान में लेता है, तब उस साधक के ज्ञान में शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय होता है, इसलिये उस नय के विषयभूत केवली को शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयात्मक कहा है। इसप्रकार नय और उसके विषय को अभेद कहने की अध्यात्मशास्त्रों की शैली है। कारणदृष्टि अनादि अनंत है; कार्यदृष्टि सादि-अनन्त है।

पुनश्च, कार्यदृष्टिवाले क्षायिक जीव कैसे हैं?—कि तीन लोक के भव्य जीवों को प्रत्यक्ष वन्दना योग्य हैं। मानों ऐसी कार्यदृष्टिवाले तीर्थंकर परमदेव साक्षात् सन्मुख विराज रहे हों—ऐसा चिंतवन करके मुनिराज कहते हैं कि अहो! ऐसे क्षायिकभावस्वरूप परमात्मा प्रत्यक्ष वंदना योग्य हैं। सिद्ध भगवन्त भी मानों उनके अपने आत्मा में स्पष्ट दिखाई दे रहे हों—ऐसे उत्कृष्ट भाव से टीकाकार कहते हैं कि क्षायिक जीव तीर्थंकर परमात्मा तीन लोक के भव्यजीवों को प्रत्यक्ष वंदनीय हैं;—ऐसे तीर्थंकर परमदेव को केवलज्ञान की भाँति यह कार्यदृष्टि भी युगपत् लोकालोक में व्याप्त होनेवाली हैं; परम अवगाढ़ सम्यक्त्व भी वहाँ साथ ही वर्तता है।

—इसप्रकार कारण और कार्य उपयोग का वर्णन किया।

प्रश्न—इस उपयोग की उपयोगिता क्या है?

उत्तर—इस उपयोगस्वभाव को जानकर उसका मनन करने से (उसकी प्रतीति और एकाग्रता से) केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्रगट होते हैं। दर्शन-ज्ञानस्वरूप जो शुद्ध चैतन्यतत्त्व, वही मोक्षार्थियों के लिये मोक्ष का प्रसिद्ध मार्ग है, अर्थात् उस शुद्ध चैतन्यतत्त्व की भावना द्वारा ही मोक्ष होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग से मोक्ष नहीं होता। शुद्धचैतन्यतत्त्व की भावना से दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप से परिणमित अपना आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है; आत्मा के बाहर अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

वर्तमान में जो कार्य प्रगट करना है, वह देने की शक्तिवाला उसका कारण वर्तमान में वर्त रहा है—वह यहाँ बतलाना है। कार्य प्रगट होने की शक्ति वर्तमान कारण में ही विद्यमान है; उस कारण की अचिंत्य महिमा को जानने तथा उसके सन्मुख होकर कार्य प्रगट करने की यह बात है।

—इसप्रकार तेरह गाथाओं में कारणरूप तथा कार्यरूप स्वभावदर्शन-उपयोग बतलाया। साथ ही साथ दोनों प्रकार की श्रद्धा भी बतलाई। अब, १४वीं गाथा में विभावदर्शन-उपयोग के प्रकार आदि का वर्णन करेंगे।

भ्रान्ति और सावधानी

१-'आत्मस्वभाव की भ्रान्ति क्या-क्या फल नहीं देती ?'

—और—

२-'आत्मस्वभाव की सावधानी क्या-क्या फल नहीं देती ?'

निगोद-दुःख और सिद्ध-सुख

१- आत्मस्वभाव की भ्रान्ति निगोद तक के भीषण दुःख देती है;

—और—

२- आत्मस्वभाव की सावधानी सिद्धदशा तक के परम सुख प्रदान करती है।

जहाँ रुचे वहाँ जाओ।

बंधन से छुटकारे का उपाय बतलाकर

आचार्यदेव शिष्य की जिज्ञासा तृप्त करते हैं

(श्री समयसार गाथा ६९ से ७२ के प्रवचनों का दोहन)

[वीर सं० २४८५, भाद्रपद कृष्णा १३ से शुक्ला ६]

(अंक १८३ से आगे)

अरे, चैतन्य को चूककर चौरासी के अवतार में जीव यों ही चला जाता है... कहीं शरण! कहीं विश्रामस्थल!—तो कहते हैं कि हाँ, इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही शरण और विश्राम है... किन्तु विकार के वेग से किंचित् विमुख होकर स्वभाव की ओर देखे तब न!

विकार के वेग में बहते हुए प्राणियों को सम्बोधकर संत लौटाते हैं कि अरे जीवों! लौटो.. लौटो! वह विकार तुम्हारा कार्य नहीं है..... तुम्हारा कार्य तो ज्ञान है। विकार के वेग में बहते हुए तुम्हारी तृषा शांत नहीं होगी, इसलिये उससे विमुख होओ... ज्ञान में लीनता से ही तुम्हारी तृषा शांत होगी, इसलिये ज्ञान की ओर आओ.... रे... आओ!

धर्मात्मा जानते हैं कि जीवन में, मरण में या परलोक में—सर्वत्र हमें अपना आत्मा ही शरणभूत है।

६४- समयसार के इस कर्ताकर्म अधिकार के प्रारम्भ में आचार्यदेव ने ऐसा समझाया है कि जीव को जब तक आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान नहीं है अर्थात् स्वभाव और विभाव को भिन्न नहीं जानता, तब तक अज्ञान से वह विकार के साथ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति में वर्तता है और इसीलिये संसार में भटकता है। यह बात सुनकर जिज्ञासु शिष्य को आत्मा में से प्रश्न उठा कि प्रभो! संसार के कारणरूप इस अज्ञान का नाश कब होगा? मेरा आत्मा इस दुःखरूप अज्ञान प्रवृत्ति में से कब छूटेगा?

६५- जिसप्रकार 'आत्मसिद्धि' में (गाथा ९५ तक) पाँच बोल (आत्मा है, वह नित्य है, कर्ता है, भोक्ता है तथा उसका मोक्ष है—यह पाँच बोल) सुनने के बाद मोक्ष का उपाय समझने की आतुरता से शिष्य कहता है कि—प्रभो!

''पाँचे उत्तरथी थयुं' समाधान सर्वांग;
समजुं मोक्ष उपाय तो उदय उदय सद्भाग्य।'' (९६)

तब श्री गुरु कहते हैं कि—

'पाँचे उत्तरनी थई आत्मा विषे प्रतीत,
थाशे मोक्ष उपायनी सहज प्रतीत अे रीत।' (९७)

ऐसा कहकर फिर उसे मोक्ष का उपाय समझाते हैं, और शिष्य उसे समझा जाता है।

—इसीप्रकार यहाँ बंध का कारण जानकर जिसे उससे छूटने का उपाय समझने की आतुरता जागृत हुई है, ऐसा शिष्य पूछता है कि—प्रभो! इस बंधन से छूटने का कोई उपाय?—किसप्रकार यह बंधन छूटेगा? किसप्रकार यह अज्ञान और दु:ख दूर होगा? तब श्री गुरु उसे बंधन से छूटने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि—

यदानेन जीवेनात्मनः आस्त्रवाणां च तथैव।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य॥७१॥

जब यह जीव आत्मा के और आस्त्रवों के अन्तर को जानता है, तब उसे बंधन नहीं होता।

६६- जिसे बंधन के दु:ख का त्रास लगा हो तथा उससे छूटने की अभिलाषा जागृत हुई हो—ऐसे जीव को यह बात समझाते हैं। अरे देखो तो, संसार के प्राणी कितने संकट में पड़े हैं और कैसे-कैसे दु:खों का वेदन कर रहे हैं! तथापि उसी पर दृष्टि लगाये बैठे हैं... चैतन्य पर दृष्टि लगायें तो क्षणभर में समस्त दु:खों का अन्त आ जाये। चैतन्य की रुचि करके, दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि लगाना ही योग्य है। जीवों को जीवन के ध्येय की भी खबर नहीं है और बिना ध्येय के यों ही संसार में भटक रहे हैं। यहाँ तो जो जीव अन्तरंग अभिलाषापूर्वक चैतन्य को अपने जीवन का ध्येय बनाने के लिये तैयार हुआ है, उसे आचार्यदेव भेदज्ञान कराके चैतन्यध्येय बतलाते हैं।

६७- देखो भाई! आठ-आठ वर्ष के बालक भी यह बात समझ सकते हैं और चैतन्य को अपना ध्येय बनाकर उसमें लीनता से परमात्मा हो जाते हैं। छोटी-छोटी उम्र के सुन्दर राजकुमार भगवान की सभा में जाते हैं और भगवान की वाणी में चिदानंद तत्त्व की बात सुनकर उनके अंतर में उतर जाती है कि—अहो! ऐसा हमारा चिदानन्द तत्त्व! उसी को ध्येय बनाकर अब तो उसी में स्थिर होंगे, अब हम इस संसार में लौटकर नहीं आऐंगे। —इसप्रकार वैराग्य प्राप्त करके, माता के पास

आकर कहते हैं कि—हे माता! हमें आज्ञा दो... अब हम मुनि होकर चैतन्य के पूर्णानन्द की साधना करेंगे। माता! इस संसार में तू हमारी अन्तिम माता है, अब हम दूसरी माता नहीं बनाऐंगे... अब हमारा मन इस संसार से विरक्त हुआ है। हे माता! अब तो चैतन्य के आनन्द में लीन होकर हम अपने सिद्धपद की साधना करेंगे और पुनः इस संसार में नहीं आऐंगे। इसप्रकार माता से आज्ञा लेकर, जिनके रोम-रोम में वैराग्य की छाया छा गई है, ऐसे वे छोटे-छोटे राजकुमार, मुनिदशा अंगीकार करते हैं। **अहा! धन्य है वह दृश्य! मानों छोटे-से सिद्ध भगवान हों!** धन्य वह दशा! धन्य वह जीवन!—ऐसी दशा प्रगट करने के लिये कैसा भेदज्ञान होना चाहिये, उसकी यह बात है।

६८- अज्ञान से होनेवाला बंधन कब अटकता है—ऐसा पूछने वाले शिष्य को आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि—जब जीव आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान कर ले, तब उसे बंधन नहीं होता। प्रथम आत्मा और आस्रवों की भिन्नता किसप्रकार है, वह बतलाकर भेदज्ञान कराते हैं—इस जगत् में जो वस्तु है, वह स्वभावमात्र ही है। ज्ञानस्वभावी आत्मा अपने ज्ञानमात्र है, क्रोधादिरूप नहीं है; और क्रोधादि भाव वे क्रोधादिरूप हैं, ज्ञानरूप नहीं है। इसप्रकार आत्मा का और क्रोधादि का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।

६९- 'स्वभाव' का अर्थ क्या? स्व का भवन, सो स्वभाव। ज्ञान का परिणमन, वह तो आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा ही है, अर्थात् ज्ञान-परिणमन तो आत्मा के साथ अभेद है। और क्रोधादिभाव का जो परिणमन है, वह तो क्रोधादिरूप ही है, वह ज्ञानरूप नहीं है। क्रोध, वह ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ज्ञान परिणमित होकर क्रोधरूप नहीं होता; और क्रोधादि के परिणमन में ज्ञान नहीं है; ज्ञान के साथ उसकी अभेदता नहीं किंतु भिन्नता है।—इसप्रकार ज्ञान की और क्रोध की भिन्नता है, अर्थात् आत्मा की और आस्रवों की भिन्नता है।

७०- ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप दशा हुई, वह तो ज्ञान का परिणमन है, उसमें क्रोध नहीं है; तथा रागादि के सन्मुख होकर जो क्रोधादि होते हैं, उनमें ज्ञान नहीं है। इसप्रकार ज्ञान ज्ञान में ही है, क्रोधादिक क्रोधादिक में ही हैं; उनमें एकत्व नहीं है—उनका स्वभाव पृथक् है।—ऐसा पृथक्त्व जानकर जब जीव ज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अनादिकालीन अज्ञानजनित कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का उसके अभाव हो जाता है और उसका अभाव होते ही बंधन भी छूट जाता है। इसप्रकार ज्ञान द्वारा बंधन अटकता है।

७१- देखो, यहाँ 'ज्ञान' किसे कहा?—कि अन्तरोन्मुख होकर जो पर्याय आत्मा के साथ

अभेद हुई, उसे 'ज्ञान' कहा है। उस ज्ञान में (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय में) क्रोधादि नहीं हैं। निश्चय से जो ज्ञान का होना, सो आत्मा है और क्रोधादि का होना, वह आत्मा नहीं है;—उसके साथ आत्मा की एकता नहीं है; इसलिये उस क्रोधादिक में तो क्रोधादि ही है, उसमें ज्ञान नहीं है। इसप्रकार ज्ञान में क्रोध नहीं है और क्रोध में ज्ञान नहीं है; ज्ञान और क्रोध दोनों का स्वभाव भिन्न है, तथा दोनों का भिन्न-भिन्न परिणमन है। किन्तु जीव उन दोनों को एक मानता हुआ, ज्ञान की भाँति ही क्रोधादि में भी निःशंक—एकरूप—कर्ताबुद्धि से प्रवर्तन करता हुआ अज्ञानी था, तब उसे बंधन होता था। अब ज्ञान और क्रोध का ऐसा भेदज्ञान करने से जीव अपने ज्ञानभाव में ही परिणमित होता है, और क्रोधादि को ज्ञान से भिन्न जानता हुआ, उसे क्रोधादि के कर्तारूप से परिणमित नहीं होता, इसलिये उसे बंधन नहीं होता। इसप्रकार भेदज्ञान से ही बंधन रुकता है।

७२- देखो भाई! जीवन में इस बात को लक्ष में लेकर भेदज्ञान करने जैसा है। इस भेदज्ञान के बिना जगत में कोई शरण नहीं है। भेदज्ञान के बिना जीवन समाप्त हो गया तो अवतार निष्फल जायेगा।

७३- यहाँ आचार्यदेव ने अंतर में स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान कराया है। आत्मा पर से भिन्न ही है और रागादि विभाव से भी आत्मा का स्वभाव भिन्न है। ऐसे स्वभाव को एकबार तो लक्ष में लो! ऐसे स्वभाव को लक्ष में लेकर उसका बहुमान-रुचि-मंथन करना, वह हित का उपाय है।

७४- सम्यक्त्वी-धर्मात्मा युद्ध में शत्रु पर बाण छोड़ रहे हों, तब भी उसका आत्मा वास्तव में क्रोधरूप नहीं होता, किन्तु ज्ञानरूप ही रहता है; उस समय भी उनका आत्मा क्रोधरूप होता हुआ प्रतिभासित नहीं होता, किन्तु ज्ञानरूप ही होता हुआ प्रतिभासित होता है।—इसप्रकार दोनों को भिन्न-भिन्न जानता हुआ उससमय भी वह ज्ञानरूप ही होता है, क्रोधरूप नहीं होता। भेदज्ञान एकक्षण भी नहीं हटता और ज्ञान तथा क्रोध की किंचित् एकता नहीं होती। इसलिये ज्ञानरूप से परिणमित होता हुआ वह ज्ञानी, क्रोधरूप से भी परिणमित होता है।—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता; क्योंकि ज्ञान का जो परिणमन है, उसमें क्रोधादि का परिणमन नहीं है; स्वभाव की ओर ढलती हुई परिणति में विभाव का कर्तृत्व नहीं होता; जहाँ स्वभाव की रुचि है, वहाँ विभाव की रुचि नहीं होती; जहाँ स्वभाव के साथ एकता है, वहाँ विभाव के साथ एकता नहीं रहती।—इसप्रकार स्वभावोन्मुख ज्ञान और विभावरूप क्रोधादि—इन दोनों में अत्यंत भिन्नता है। ऐसी

भिन्नता होने से भेदज्ञानी जीव को क्रोधादिक के साथ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये उसे बंधन नहीं होता।

७५- अरे भाई! एकबार ऐसा भेदज्ञान तो कर... तब तुझे ज्ञात होगा कि धर्म क्या वस्तु है! विभावों से भिन्नरूप अपने ज्ञानस्वभाव का अंतर में लक्ष करने पर तुझे अपना ज्ञान, क्रोधादि से पृथक् अनुभव में आयेगा। अंतर्मुख अनुभव में 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसा प्रतिभासित होता है, किन्तु 'मैं क्रोध हूँ'—ऐसा प्रतिभासित नहीं होता।

७६- ज्ञान में रागादि परभाव भी नहीं हैं, इसलिये ज्ञान में उनका भी कर्तृत्व नहीं है, तो फिर बाह्यवस्तु के कर्तृत्व की तो बात ही कहाँ रही?

७७-**प्रश्न :**-'ज्ञान में राग नहीं है' ऐसा कहा, तो जीव को जब तक राग हो, तब तक वह ज्ञानी नहीं है—ऐसा कहलाया?

उत्तर :- भाई! जो राग है, वह ज्ञानी को अपने ज्ञानभाव से एकमेक भासित नहीं होता, किन्तु पृथक् ही भासित होता है, इसलिये 'ज्ञानी' वास्तव में राग में नहीं है किन्तु ज्ञानभाव में ही है।—यह बात भलीभाँति समझ में आ जाये तो तुझे मालूम हो कि ज्ञानी क्या करते हैं! राग के समय ज्ञानी राग करते हैं या ज्ञान करते हैं—इस बात की खबर अज्ञानी को नहीं हो सकती, क्योंकि उसे स्वयं को राग और ज्ञान की भिन्नता का भान नहीं है। सम्यक्त्वी को राग होने पर भी उसी समय ज्ञान में एकतारूप परिणमन होने से तथा राग में एकता एकतारूप परिणमन न होने से वह ज्ञानी ही है।

७८- अज्ञानी को राग के समय आत्मा उस रागरूप ही प्रतिभासित होता है, उस राग से भिन्न ज्ञान उसे भासित नहीं होता, इसलिये अज्ञानभाव से वह रागादि के कर्तारूप ही परिणमित होता है।

—इसप्रकार भेदज्ञानी और अज्ञानी की अंतरपरिणति में महान अन्तर है।

७९- भेदज्ञानी को निरंतर ज्ञानभवन है, और अज्ञानी को निरंतर क्रोधादि का भवन है; क्रोध के समय उससे भिन्न कोई आत्मा अज्ञानी को प्रतिभासित नहीं होता, इसलिए वह तो क्रोधरूप ही परिणमित होता है। ज्ञानी को क्रोध के समय भी अपना ज्ञानस्वभावी आत्मा उससे भिन्न भासित होता है, इसलिये उस क्रोध के समय भी ज्ञानस्वरूप के परिणमित होते हुए वे ज्ञानी ही हैं।

८०- ऐसा भेदज्ञान करना वह अपूर्व है। एक क्षण का भेदज्ञान सिद्धपद का सन्देश और मोक्ष का दृढ़ विश्वास देता है। भेदज्ञान होने पर अनंत संसार टूटकर अल्पकाल में मोक्ष हो जाता है।

आत्मार्थी को सम्बोधन

हे आत्मार्थी बन्धु!

आत्मसाधना में जगत के विविध प्रतिकूल-अनुकूल संयोग तो बीच में आते ही हैं... यह कोई आश्चर्य नहीं है। किन्तु ऐसे समय पर अपनी आत्मार्थिता के बल से—अपनी सर्वशक्ति को उपयोग में लेकर अपनी आत्म-साधना में अडिग रहना... अखण्डरूप से उसे बनाए रखकर उसमें दृढ़ता से आगे बढ़ना। 'आ..त्मा..र्थि..ता'—यही एक ऐसा महान बल है कि जिसके समक्ष जगत का कोई बल नहीं चल सकता;—जगत का कोई बल आत्मार्थी को उसके मार्ग से च्युत नहीं कर सकता। सचमुच आत्मार्थी को जगत में कोई विघ्न है ही नहीं।

तथापि, हे जीव! तुझे उलझन हो तो पूर्व कालीन महापुरुषों के जीवन को याद कर... उन साधक-संतों ने कैसे-कैसे प्रसंगों में भी अपनी आराधना बनाए रखी है—उनका स्मरण करके, उनके उदाहरण से अपने आत्मा को भी आराधना में उत्साहित कर।

आत्मार्थी के परिणाम उल्लसित होते हैं; क्योंकि आत्मस्वभाव को साधकर उसे अल्प काल में संसार से मुक्त होकर सिद्ध होना है; इसलिए उसे निरन्तर अपनी मुक्ति का उल्लास होता है, और इसीकारण वह उल्लसित वीर्यवान होता है। पूर्वकाल में जिसे कभी नहीं साध पाया ऐसे अपने सम्यग्दर्शनादि कार्य को साधने के लिये आत्मार्थी का हृदय निरन्तर उत्साहित होता है।

सिद्धपद की अपूर्व शांति

[दक्षिणयात्रा के समय खैरागढ़ में शांतिनाथ प्रभु की वेदी प्रतिष्ठा के अवसर पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : ता: ९-४-५९]

जो जीव आत्मार्थी हो, उसे चैतन्यसुख का रंग लगता है और बाह्य विषयों का रंग उड़ जाता है। जिसे चैतन्यसुख का रंग नहीं है और विषयों के सुख में जो रंगा हुआ है, ऐसे जीव को आत्मज्ञान की पात्रता नहीं है। इसलिए प्रथम सत्समागम से चैतन्यसुख का रंग लगाकर

विषयसुखों की इच्छा छोड़ देना चाहिये, वही पात्रता है। ऐसी पात्रतावाला जीव अवश्य सिद्धपद की अपूर्व शांति प्राप्त करता है।

वन में वास करनेवाले पद्मनन्दि मुनिराज ने अपने आत्मा का हित तो साध ही लिया था और जगत के प्राणियों का हित कैसे हो, उसका उपाय बतलाने के लिये इस शास्त्र की रचना की है। सूर्य की किरणें भी जिस अज्ञान-अंधकार का नाश नहीं कर सकती, उसका नाश ज्ञानी-संत-मुनियों के वचनों द्वारा हो जाता है। श्री मुनिराज कहते हैं कि अरे जीवो! तुम्हारा चैतन्य-स्वभाव ही सुख से भरा हुआ है, उसे भूलकर तथा विषयों में सुख मानकर आत्मा अनंत काल से दु:ख भोग रहा है। इस संसार में जन्म-मरण रोग-सम्बन्धी जो दु:ख है, उसकी बात तो दूर रहो, परन्तु सांसारिक विषयों सम्बन्धी जो सुख है, वह भी वास्तव में दु:ख ही है। चैतन्यस्वभाव से बाहर विषयों में वृत्ति का भ्रमण सो दु:ख है। शांति तो चैतन्यस्वभाव में है, उसकी सन्मुखता से ही सच्ची शांति होती है।

देखो, यहाँ दिगम्बर जिनमन्दिर में शांतिनाथ भगवान की प्रतिष्ठा हो रही है; उसमें आत्मा की शांति कैसे प्राप्त हो, यह बात मुख्य है। अनंत कालीन परिभ्रमण के प्रवाह में जीव ने चैतन्य की सच्ची शांति का अनुभव एक क्षणमात्र भी नहीं किया; अनुकूल विषयों में सुख की कल्पना की है, किन्तु वह वास्तव में सुख नहीं है। सम्पूर्ण सुख और शांति तो मोक्ष में है और उस मोक्ष का उपाया चैतन्यस्वरूप में है; चैतन्यस्वरूप से बाहर किसी भी विषय में सुख या मोक्षमार्ग नहीं है। चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करनेवाले वनवासी संत कहते हैं कि—अरे प्राणियों! विषयों में माना हुआ जो सुख है, वह सुख नहीं किन्तु दु:ख ही है। चक्रवर्ती के वैभव में या इन्द्रपद के वैभव में भी किंचित् सुख नहीं है। सुख तो अतीन्द्रिय चैतन्य में हैं।

अतीन्द्रियस्वरूप में सुख है; उसे समझे बिना जीव ने अनंत काल से दु:ख प्राप्त किया है; श्रीगुरु उसे उसका चैतन्य पद समझकर सुख का उपाय बतलाते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र 'आत्मसिद्धि' के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि—

जो स्वरूप समज्या बिना पाम्यो दु:ख अनंत,
समजाव्यु ते पद नमुं श्री सद्गुरु भगवंत।

देखो, यह धर्म! धर्म कहो या आनन्द का उपााय कहो! चैतन्यस्वरूप की अनभिज्ञता—अज्ञान, वह दु:ख है और चैतन्यस्वरूप को समझना—ज्ञान करना, सो अपूर्व सुख और धर्म का प्रारम्भ है।

अरे जीव! एक बार तो विषयों में से सुखबुद्धि छोड़कर अपने चैतन्यपद की प्रीति कर; फिर तुझे अनंत काल से अप्राप्त ऐसे अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होगा। उस अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करने के लिये प्रथम सत्समागम से पात्रता करना चाहिये क्योंकि—

पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिकज्ञान,
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान।

'मतिमान' अर्थात् चैतन्यस्वरूप में मति को लगाकर; ब्रह्मचर्य का सेवन करना, सो पात्रता है और ऐसा जीव आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये पात्र है। जिसने चैतन्यस्वरूप में मति लगाकर उसकी रुचि की, उसे चैतन्यसुख का रंग लगा और बाह्य विषयों का रंग उड़ गया, विषयों में से सुखबुद्धि उड़ गई, इसलिये ब्रह्मचर्यादि का रंग उसे सहज ही होता है; ऐसा जीव आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये पात्र है। जिसे चैतन्यसुख का रंग नहीं लगा है और जो विषयों के सुख में रंगा हुआ है, ऐसे जीव को आत्मज्ञान की पात्रता नहीं है, इसलिये प्रथम सत्समागम से रुचि बदलकर चैतन्यस्वभाव का रंग लगाना और विषयसुख की रुचि छोड़ देना, सो पात्रता है।

जीव को बाह्य संयोगों का प्राप्त होना, वह पूर्व के पुण्य-पापानुसार है, उसमें जीव का कोई पुरुषार्थ नहीं है। परन्तु धर्म (-आत्मज्ञान और स्थिरता) तो वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थ से होता है। जीव को अनुकूल संयोग अनंतबार मिले हैं, बाह्य विषयों की बात उसने अनंतबार सुनी है, किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि जीव ने अपने शुद्धस्वरूप की प्राप्ति तथा उसका यथार्थ श्रवण पहले एक क्षणमात्र भी नहीं किया, इसलिये वह महादुर्लभ है।

अरे भगवान! तू पर में सुख मान रहा है और ऐसा मानता है कि पर के बिना नहीं चलेगा; किन्तु क्या तेरा आत्मा ऐसा पराधीन है कि परवस्तु के बिना उसे नहीं चलेगा?! भाई, तेरा आत्मा स्वाधीन है, वह स्वयं अपने से सुखरूप है, अपने सुख के लिये जगत के किन्हीं बाह्य विषयों की अपेक्षा रखे, ऐसा वह पराधीन नहीं है। एक बार अंतर्मुख होकर अपने चैतन्यस्वभाव की प्रतीति और अनुभव कर। उसके अनुभव से तेरे जन्म-मरण का अन्त आ जायेगा और सिद्धपद की अपूर्व शांति प्राप्त होगी।

शांतिदाता शांतिनाथ भगवान की जय हो।

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से मांग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० करीब, मूल्य लागत मात्र ५), पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवालों को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

पता— श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सस्ते में मिलेगा

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत **पंचास्तिकाय संग्रह**

यानी पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरशः ठीक रूप में अनुवाद प्रथम बार ही हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा-आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र की टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है, टीका के नीचे कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज सुन्दर छपाई और मजबूत सुन्दर बाइडिंग सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ४-५० है, पोस्टेजादि अलग (पृ०सं० ३१५) थोक लेने पर कमीशन २५) सें. देंगे।

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य यह उत्तम साहित्य है।]

आत्मा की शोभा

आत्मा अपने स्वभाव में एकता करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप से परिणमित हो, उसमें आत्मा की शोभा है; परन्तु पर के साथ सम्बन्ध से अशुद्धतारूप परिणमित हो, उसमें आत्मा की शोभा नहीं है। इसलिये हे जीव! पर से अत्यन्त भिन्नता जानकर, पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव में एकत्व कर। ज्ञायकस्वभाव में एकता करके जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, उनके द्वारा ही तेरे आत्मा की शोभा है।

गुजराती भाषा में 'द्रव्य संग्रह' (नई आवृत्ति)

तत्त्वार्थसूत्र के समान द्रव्यसंग्रह भी प्रायः प्रत्येक जैन पाठशाला में पढ़ाया जाता है, आज तक अनेकों आवृत्तियाँ प्रगट हो चुकी हैं किन्तु सर्व विद्यार्थी जिज्ञासुओं को अभ्यास करने में उपयोगी हो सके, जैनेतर बन्धु भी जैनधर्म की विशेषता समझ सकें, ऐसी शैली से इसका नया संस्करण तैयार हुआ है। साथ में लक्षण तथा भेद संग्रह तथा लघु द्रव्य संग्रह भी बढ़ा दिया है। बढ़िया कागज पृ० संख्या २२० मूल्य ८३ नये पैसे, पोस्टेज २० नये पैसे अलग।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर
पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नोट-गतांक नं० १८३ में 'द्रव्यसंग्रह' का मूल्य गलती से ८३ नये पैसे के बजाय ६० नये पैसे छप गया था, पाठकगण सुधार लें।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।